

मैथिलीशरण गुप्त जी और उनका द्वापर : भाव पक्ष एवं कलापक्ष का समीक्षात्मक एक अध्ययन

डॉ. आर.पी. वर्मा,

एसो. प्रो. एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
राजकीय महाविद्यालय गोसाईंखेड़ा,
जनपद-उन्नाव, उ.प्र.

द्वापर के सभी पात्र अपने हृदय में उद्वेलित अनुभूतियों और भावनाओं को मूर्तरूप देने के लिए ही क्रम-क्रम से काव्य के रंगमंच पर उपस्थित हो रहे हैं। हर्ष, शोक, क्रोध, रति, वात्सल्य आदि भावनाएं इस काव्य में विविध पात्रों के माध्यम से मानो सजीव होकर मुखरित हो उठी हैं। हृदय की ये भावनाएँ या भाव ही जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से परिपूर्ण अवस्था में व्यक्त होते हैं तो रस कहलाते हैं। जैसे कि कहा गया है :-

विभावानुभाव व्यभिचारी भाव संयोगत्तसनिष्पत्तिः

रति, हर्ष, शोक, क्रोध आदि स्थायी भाव ही जब विभाव, अनुभाव संचारी भाव के संयोग से व्यक्त होते हैं तो रस कहलाते हैं। यह रस वस्तुतः काव्य के द्वारा प्राप्त अनिर्वचनीय आनन्द ही है। इसके लिए कहा गया है कि :-

‘वेद्यान्तर स्पर्शशयः ब्रह्मानन्द सहोदरः’

रस ब्रह्मानन्द का सहोदर है। रस की अनुभूति होने पर सहृदय को दूसरी किसी बात का भान नहीं रहता, वह उसी में तन्मय हो जाता है। रसावस्था में पहुंचकर ये विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आलम्बन और आश्रय ऐसे एकाकार हो जाते हैं कि इनकी प्रथकता प्रतीत ही नहीं होती। यह एकात्मकता वैसी ही है जैसी कि प्रपाणक रस अथवा टंडाई में बादाम, चीनी, इलायची, काली मिर्च, दूध और अंगूर आदि विविध पदार्थ मिलकर एक दिव्य स्वाद के रूप में परिणत हो जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भावोदबोधन के द्वारा किसी काव्य को पढ़ते-सुनते समय हृदय के सहृदय में जिस अलौकिक दिव्य आनन्द की अनुभूति होती है उसी का नाम रस है और इस रस को ही काव्य की आत्मा माना गया है—

वाक्यं रसात्मकं काव्यं ।

अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है। भाव यह है कि कवि की किसी उत्कृष्ट कृति को पढ़ते-सुनते समय सहृदय कभी क्रोध में भर जाता है तो कभी वात्सल्य की भावना में आंकठ मग्न हो जाता है तो कभी रति भाव प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता है। उस रचना को पढ़ते-पढ़ते वह इतना आनन्दविभोर हो उठता है कि क्षण भर के लिए अपने आपको भी भूल जाता है, दूसरे लोगों की तो बात ही क्या। बस इसी समाधि की-सी अवस्था का नाम रसावस्था है। इस अवस्था में पहुंचा हुआ सहृदय भावुक अपना और पराये के मान को भूल जाता है। करुण, क्रोध, हास्य आदि भाव पराये होकर भी उसे अपने ही लगने लगते हैं। वह इतना तन्मय हो जाता है कि अपने आप ही को राम, कृष्ण, देवकी, यशोदा और कंस भी मानने लगता है। अपने और पराये के भेदभाव के मिट जाने का नाम ही साहित्य की भाषा में साधारणीकरण है। जैसे कि कहा गया है—

परस्य न परस्येति ममेति च ।

अर्थात् रसावस्था में पहुंचने पर सहृदय रसिक दर्शक या पाठक की भावनाओं के साथ आलम्बन

और आश्रय की भावनाओं का ऐसा एकीकरण या साधारणीकरण हो जाता है कि उसे आलम्बन या आश्रय की भावनाएं अपनी ही प्रतीत होती हैं। वह क्षण भर के लिए भूल बैठता है कि मैं तो पुरुष हूं और देवकी तो एक स्त्री थी। मैं इस बीसवीं शताब्दी का मानव हूं और वह तो आज से हजारों वर्ष पूर्व हुई थी। उसके सुख-दुख का भला मेरा क्या सम्बन्ध है। वह जेल में पड़ी सड़ती रही तो सड़ा करे मुझे क्या। इसके विपरीत –

बच्चे मेरे मेरे बच्चे, बोलूँ मैं क्या जै-जै,

मेरा मन तो चिल्लाता है एक, दो, नहीं छै-छै

ओहो, मृदुल-से भी वे मसल दिये इस खल ने

मांस पिण्डु, मक्खन के लौंदे निगल लिए इस

खल ने।

जैसी पंक्तियों को पढ़ते-पढ़ते पाठक-हृदय की वृत्तियां मानो देवकी की भावना के साथ एकाकार हो जाती हैं और उसके हृदय में देवकी की करुणा मूर्त हो उठती है।

यह भावानुभूति या रसात्मकता ही वस्तुतः काव्य की आत्मा या प्राण है और इसीलिए यह कहा जाता है कि जिस काव्य का भावपक्ष जितना ही परिपुष्ट होगा, वह उतना ही उत्कृष्ट समझा जाएगा।

इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि द्वापर का भावपक्ष भी पर्याप्त परिपुष्ट है। इस काव्य में रति, शोक, क्रोध, उत्साह एवं यथास्थान अत्यन्त तलस्पर्शी रूप में व्यक्त हुए हैं।

यह ठीक है कि इस भाव-धारा का विस्तार असीम नहीं है, पर वह गम्भीर बहुत है। द्वापर में रस के अनन्त प्रवाह नहीं उमड़ रहे और न इसमें किसी एक भाव की वैसी अविरल धारा ही प्रवाहित हो रही है जैसी कि साकेत या यशोधरा में। यहां तो रस के छोटे-छोटे निस्स्यन्द श्रवित हो रहे हैं। ऐसे निस्स्यन्द जिनकी शीलता

और सरसता का अनुभव हृदय तो भलीभांति करता है पर पाठक उसकी धारा में आंकट मग्न नहीं हो पाता।

बात तो यह है कि द्वापर प्रबन्ध काव्य नहीं है। यह प्रगीत मुक्तक है और ऐसे काव्यों में आंकट मग्न कर देने वाली रसधारा प्रवाहित प्रायः नहीं हो पाती। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि द्वापर में अनेक भावनाएं इतने सक्षम और सबल रूप में व्यक्त हुई हैं कि पाठक का अन्तरतम अनेकत्र रस विभोर हो उठता है।

सर्वप्रथम रस राज श्रृंगार और उसके स्थायी भाव रति के सम्बन्ध में विचार करते समय यह देखते हैं कि श्रृंगार के दोनों पक्षों का यहाँ यथोचित निर्वाह हुआ है। द्वापर में श्रृंगार रस के आश्रय श्रीकृष्ण हैं और आलम्बन राधिका और कुब्जा तथा विधृता है। गोपियां भी श्रृंगार का आलम्बन ही हैं। इन चारों-पांचों के माध्यम से द्वापर में रति भाव की धारा अत्यन्त उज्ज्वल और मर्यादित रूप में प्रवाहित हुई है।

इसमें भी विशेषता यह है कि राधा और गोपियों के यहां वियोग श्रृंगार ही का प्राधान्य है। जबकि कुब्जा के यहां हमें संयोग की भी एक छटा दिखाई दे जाती है। यों एक-दो पदों में राधा-कृष्ण का संयोग श्रृंगार भी व्यक्त हुआ है। परिणाम की दृष्टि से यह सर्वांगीण है इसमें कुछ सन्देह नहीं।

यह वृन्दावन यह वंशीवट यह यमुना का तीर हरे।

यह तरते ताराम्बर वाला नीला निर्मल नीर हरे।

यह शशि रंजित सित धन-व्यजिन परिचित

त्रिविध समीर हरे।

बस, यह तेरा अंक और यह मेरा रंग शरीर हरे।

इस पद में श्रीकृष्ण आलम्बन, राधिका आश्रय, वृन्दावन, वंशीवट, यमुना तट और ताराम्बर से युक्त नील निर्मल नीर एवं शशि रंजित त्रिविध समीर उद्दीपक है। 'यह तेरा अंक' और 'यह मेरा

रंक शरीर' पदों के द्वारा श्रीकृष्ण और राधिका का मिलन व्यंजित हुआ है। इसी प्रकार –

**झुक, वह वाम कपोल चूम ले यह दक्षिण अवतंस
हरे।**

में भी श्रृंगार रस के अनुभाव चेष्टाओं का मनोरम चित्रण हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राधा-कृष्ण के संयोग श्रृंगार की झांकी द्वापर में जो अंकित हुई है वह क्षणिक होते हुए भी स्थिर और संक्षिप्त होते हुए भी परिपूर्ण है।

आगे चलकर हम देखते हैं कि कुब्जा के माध्यम से संयोग श्रृंगार की ऐसी ही हृदयस्पर्शी झांकी के द्वारा पाठक का अन्तर-बाह्य रसाप्लावित हो उठता है—

**चमक गई बिजली—सी भीतर नस—नस चौंक पड़ी
थी,**

**तनी जन्म की कुब्जा क्षण में सरलर बनी खड़ी
थी,**

**चिबुक हिलाकर छोड़ मुझे फिर मायावी मुस्काया,
हुआ नया निस्पन्दन उर में, पलट गई यह काया।**

यहाँ श्री श्रृंगार रस के प्रायः सभी अंग विद्यमान हैं और रतिभाव का पूर्ण उद्बोधन हुआ है। कुब्जा आलम्बन है और श्रीकृष्ण आश्रय। भीतर बिजली का—सा चमक जाना, जन—नस का चौंक पड़ना, उर में नया स्पन्दन होना सात्विक भाव है—

चिबुक हिलाकर छोड़ मुझे मायावी मुस्काया।

आदि अनुभाव हैं। इसी प्रकार—

**मैं ही नहीं सृष्टि ही सारी, पलट गई थी पल में,
उतर इन्द्र का नन्दन वन—सा, छाया था भूतल
में।**

**इस भव में रस और भाग था मेरा भी उस रस में,
छूटे स्रोत, साथ ही शतदल फूटे इस मानस में।**

आदि पद में भी उसी संयोग श्रृंगार की अवतारणा हुई है।

गोपियों के प्रसंग में प्रायः विरह भाव का ही प्राधान्य है फिर भी—

**ऊपर घटा घिरी थी, नीचे पुलक कदम्ब खिले थे,
झूम—झूम रस की रिमझिम में दोनों हिले मिले थे।**

जैसी पंक्तियों में संयोग श्रृंगार की भी अत्यन्त मधुर छटा निखर रही है।

इस प्रकार सहृदय रसिक पाठक को द्वापर में श्रृंगार के संयोग पक्ष की सुखद अनुभूति का आभाष भी खलता नहीं है। वियोग पक्ष का प्राधान्य होते हुए भी संयोग श्रृंगार की भी यथाप्रसंग अत्यन्त सूक्ष्म किन्तु सजीव अवतारणा हुई है इसमें कुछ सन्देह नहीं है।

संयोग श्रृंगार के पश्चात् विप्रलम्भ या वियोग श्रृंगार का विवेचन करते हुए हम पाते हैं कि द्वापर में श्रृंगार के विप्रलम्भ पक्ष को भी पर्याप्त स्थान मिला है।

श्रीमद्भागवत की कुब्जा को तो श्रीकृष्ण का संयोग सुख भी प्राप्त हुआ था, किन्तु द्वापर की कुब्जा तो चिरवियोगिनी ही है। कुब्जा के हृदय से विरहोच्छ्वास इतने आवेग के साथ उद्भूत हुए हैं कि उनके कारण सारा वातावरण विरहावेग से आन्दोलित हो उठा।

**आया नहीं विसासी अब भी बस ये आंसू आए,
आहा उसी लावण्य सिन्धु का रस ये आसूँ लाए।
पी पीकर मैं इन्हें भाग्य को अब भी कैसे कोसूँ,
पर अंजान इस आतुर उर को कब तक पालूँ
पोसूँ।**

जैसी पंक्तियों में यह विरह भाव अत्यन्त हृदयद्रावक रूप में व्यक्त हो रहा है और जब वह यह कहती है कि मेरा तो श्रीकृष्ण के साथ कुछ क्षणों का ही संयोग हुआ था, फिर भी मैं उनके

विरह में इस प्रकार तड़प रही हूँ, तब उन ब्रजागुंडनाओं की न जाने क्या दशा हो रही होगी जो उनकी सदा संगिनी रही थी, तो ऐसा लगता है कि मानों ये शब्द हृदय की अन्तर व्यथा को अत्यन्त ही मार्मिक रूप से व्यक्त कर रहे हैं—

अथवा एक परस में ही जब तरह रही मैं इतनी।

होगी विकल न जाने तब वह सदा संगिनी
कितनी।

इसी प्रकार—

पत्र—पत्र में तेरी आहट चौंकाती आती है।

किन्तु प्रतीक्षा में ही बेला बीत—बीत जाती है।

निद्रा तेरा स्वप्न ले गई अरे सत्य अब जाना।

जाग रही हूँ स्वागतार्थ मैं ओ राजों के राजा।

में भी कुब्जा का विप्रलम्भ भाव अत्यन्त सजीव रूप में प्रकट हुआ है। यह कुब्जा का अकेली का विरह नहीं, यह तो अपने प्रिय से बिछुड़ी हुई प्रत्येक विरहिणी का विरह है। कुब्जा जिस प्रकार प्रत्येक पत्ते की खड़खड़ाहट को सुनत हो चौंक पड़ती है और उत्सुकतापूर्वक इधर—उधर देखने लगती है कि कहीं उसके प्रिय श्रीकृष्ण हो तो नहीं आ रहे, प्रियजन से विरहित और उसकी प्रतीक्षा में बैठे हुए प्रत्येक जन की यही दशा होती है। कुल मिलाकर कह सकते हैं कि द्वापर की कुब्जा तो वियोगिनी ही है। इसलिए वह कहती है कि—

तू चाहे जिसका योगी हो, मेरा तो क्षणिक
वियोगी।

कुब्जा के पश्चात् जब हम द्वापर की राधा और गोपियों की झाँकी निहारते हैं तो पाते हैं कि द्वापर की इन ब्रजागुंडनाओं के भाग्य में तो मानो चिरविरह ही वदा है। उनके इस विरह की अभिव्यक्ति स्वयं उनके मुख से तो हुई है, उद्धव के अनेक मर्मस्पर्शी वाक्यों के द्वारा भी वह विरह भाव मानों सजीव हो उठा है। राधा का यह विरह

भाव तो उन्माद की अवस्था तक पहुँच गया है। इस उन्माद की अवस्था में वह आनी देह का भान भी भूल बैठती है और अपने आपको श्रीकृष्ण ही मानने लगती है—

अभी विलोक एक अति उड़ता उसने चौंक कहा
था—

सखि वह आया, इस कलिका में क्या कुछ शेष
रहा था ?

पर तत्क्षण ही गरज उठी वह भौंह चढ़ाकर
बाँकी—

‘सावधान अति हटकर लेना तू प्यारी की झाँकी।’

गोपियों का यह विरह भाव तो उत्तरोत्तर परिवृद्धि होता हुआ विश्व व्यापक रूप धारण कर लेता है। अब तो कृष्ण के विरह सन्ताप से ब्रजमण्डल में बहने वाले जीवन स्रोत भी सूख गये हैं और कोयल भी मानोऊऊ कर रो रही है—

उद्धव अब आए इस वन में सूखा जब सोता है,
सुनो वही कोकिल अब कैसा ऊ ऊ कर रोता है।
रह रहकर एक कूक उठती है हृदय टूक होता है,
समासफी न वह मूर्ति इसमें भग्न धैर्य होता है।

इतना ही नहीं कृष्ण के विरह में मानो यमुना के दोनों तट भी उदास से दिखाई दे रहे हैं। श्रीकृष्ण के इस विरह से चराचर मात्र व्यथित हो उठा है :

मूर्छित जैसे कालिन्दी के अब ये कूल पड़े हैं।

डूब जाय कब देखो तट के विटपी झूल पड़े है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि द्वापर विरह—भाव अत्यन्त उदात्त और विशाल पृष्ठभूमि पर अंकित हुआ है। यद्यपि प्रमुख रूप से राधा के हृदय सागर में ही यह विरह भावना उद्वेलित हुई है, पर इसी आर्द्रता से गोपियाद् ही क्यों ब्रज का समस्त जड़ चेतनात्मक जगत करुणारनात होकर आप्लावित हो उठा है। इसीलिए कह सकते हैं कि द्वापर का

विरह भाव वैतालिक होकर भी विश्व जननी है। उसमें हृदय की गहराई और तल स्पर्शिता भी परिपूर्ण रूपेण विद्यमान है।

द्वापर में श्रृंगार से पश्चात् करुणभाव की व्यापक प्रतिष्ठा हुई है। देवकी, उग्रसेन और नन्द के स्वगत भाषणों में करुण भाव की झलक मिलती है। उनमें से भी देवकी के उद्गारों में तो करुणा साकार रूप में व्यक्त हो उठी है। इस सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि देवकी मानों मूर्तिमति करुणा है और हो भी क्यों न जबकि उसके छः-छः पुत्रों का वध उसकी की आंखों के सामने कर दिया गया हो और वह स्वयं काल कोठरी की असह्य यातनाएँ भुगत रही हो, इतना ही नहीं उसी के कारण उसके पति को भी कारागार की दारुण यन्त्रण सहनी पड़ रही हो :

मेरे बच्चे जैसे आए, चले गए वैसे ही,

क्यों आए, क्यों गए अरे, वे ऐसे के ऐसे हो ?

न तो यहाँ देखा न सुना कुछ न कहा निज मुख
से।

रहे अपरिचित ही अनीह वे इस भव के सुख-दुख
से।

जैसी पंक्तियों को पढ़ते-पढ़ते पाठक के नेत्र अनायास ही अश्रुसिक्त हो उठते हैं। बात तो यह है कि देवकी जैसी विपन्न नारी साहित्य में अन्यत्र शायद ही कहीं मिल सके और इसमें कुछ सन्देह नहीं कि गुप्त जी ने देवकी करुणदशा का चित्रण करते हुए इतनी हार्दिक तन्मयता उसमें भर दी है कि इन गिने-चुने पदों में ही उसकी सम्पूर्ण व्यथा मानो शत सहस्र मुखी होकर फूट पड़ी है। करुणा के साथ देवकी के अन्तर को आक्रोश भी उतनी ही क्षमता के साथ व्यक्त हुआ है।

देवकी के पश्चात् इस करुण भाव ने नन्द बाबा के हृदय को आ घेरा है। कृष्ण और बलराम को मथुरा में छोड़कर अकेले घर लौटते हुए नन्द

बाबा का हृदय लाड़ले लालों के विरह में मानो फूट पड़ा—

जब तक मैं भी तनिक अकेला रहकर जी भर

रोलूँ।

मानस के जल से मुख धो लूँ कटि कस प्रस्तुत
होलूँ।

इसी प्रकार—

शून्य गगन तेरी गोदी को अभी इन्दु भर देगा,
पर मेरी जीवन संध्या का तिमिर कौन हर लेगा।
कौन हूक उठ रही न जाने यह मेरे गोकुल से,
उतरूँगा क्या पार हाय मैं इसी धुएँ के पुल से।

आदि पंक्तियों में करुणा भाव अत्यन्त गम्भीर रूप से प्रवाहित हो रहा है और जब नन्द बाबा यह कहते हैं कि पखेरुओं ! सन्ध्या हो रही है। इसलिए तुम जाओ उड़कर अपने घोंसलों में प्रतीक्षा करते हुए शावकों से जा मिलो, पर मुझे घर जाने के लिए मत कहो, क्योंकि आज मेरे लिए घर हो या वन कहीं भी रह रही क्या गया है? तो सहृदय का हृदय सहसा दयार्द्र हो उठता है।

यह सब देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि द्वापर में अभिव्यक्त करुण रस के आलम्बन देवकी के मृत पुत्र है—

किन्तु क्या न था उन बच्चों में ? रूप रंग थे रूरे,
जीवन अदुरित हृदय विस्फुरित अंग अंकुरित पूरे।

आदि शब्दों में उनका गुणानुवाद उद्दीपन है। देवकी आलम्बन है और देवकी का व्याकुल होना अनुभाव है। तो दूसरी ओर नन्द से बिछुड़े हुए श्रीकृष्ण आलम्बन, उनके गुण और कार्यों की स्मृतियां उद्दीपन, नन्द बाबा आश्रय और उनका रोना-बिलखना उद्दीपन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वापर में करुणभाव की धारा भले ही परिमित पंक्तियों की कुल्याओं में ही प्रवाहित हो रही है, इतना पाट भले ही विस्तृत नहीं है, पर वे हैं इतनी गम्भीर और सघन कि सहृदय का हृदय अनायास ही उसमें निमग्न हो अपने समग्र कालुष्य का प्रक्षालन कर अत्यन्त निर्मल बन जाता है।

साहित्य शास्त्र में शृंगार और करुण ये दो ही प्रमुख रस माने गए हैं। एक आचार्य का कथन है कि –

शृंगारमेव रसनादरसमामनामः

अर्थात् रसास्वादन की परिपूर्ण क्षमता तो केवल शृंगार में ही है। इसलिए हम तो एकमात्र शृंगार को ही रस मानते हैं। इसके विपरीत महाकवि भवभूति का मत है कि—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्।

अर्थात् करुण रस ही एकमात्र मुख्य रस है। वह करुण रस ही निमित्त भेद से अनेक रसों में परिणत हो रहा है। ठीक वैसे ही जैसे कि एक ही ब्रह्म नाना रूपों में विवर्तमान लक्षित होता है। इस प्रकार साहित्य मनीषियों ने शृंगार और करुण इन दोनों ही रसों को प्रमुखता दी है। द्वापर में इन दोनों रसों का निर्वाह यथेष्ट रूप में हुआ है। यह हम देख चुके हैं कि शृंगार और करुण रस के पश्चात् वत्सल रस अपनी व्यापकता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा गया है। यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने रसों की संख्या आठ तक ही परिमित कर दी थी और उन रसों में वीभत्स जैसे घृणित रसों को स्थान देकर भी वात्सल्य को विस्मृत कर गए थे और यह भी सत्य है कि इस रस को रसों की गणना में नौवां स्थान भी प्राप्त न हो सका, इसे दसवें नम्बर पर फेंक दिया। फिर भी सूर जैसे सिद्धहस्त कवियों की कृपा से हिन्दी साहित्य में वत्सल रस का स्थान अमर हो गया है इसमें कुछ सन्देह नहीं। वास्तविक रूप से देखा जाय

तो वात्सल्य रस शृंगार, वीर और करुण से किसी भी प्रकार कम नहीं प्रतीत होता।

तदनुसार हम देखते हैं कि द्वापर में भी वत्सल रस का पर्याप्त परिपाक हुआ है। यशोदा के मातृ हृदय में तो वात्सल्य भावना का अगाध सागर ही लहरा रहा है। यशोदा के प्रत्येक पद के कृष्ण की बाललीला की जीतीजागती झांकी के एक से एक बढ़कर मानों रस चित्र अंकित होते जा रहे हैं—

खाए बिना मार भी मेरी वह भूखा रहता है,

कुछ उधम करके तटस्थ सा मौन भाव गहता है।

आते हैं कल-कल सुनकर वे हंसकर कहता है—

देखो यह झूठा झुझलाना, क्या सहता-सहता है।

जैसे पदों में यह वात्सल्य भाव आकण्ठ झलकता-सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार ग्वालबालों के जो चित्र द्वापर में अंकित हुए हैं वे भी वात्सल्य रस के एक से एक सुन्दर अनूठे निदर्शन हैं—

हम हाथी घोड़े है उसके यमुना उसकी पालकी,

बलिहारी-बलिहारी जय-जय गिरधारी गोपाल

की।

इसी प्रकार—

चोरों की है या विनोद के धनियों की यह मंडली

?

घर का भद्र जहाँ भेदी है वहाँ किसी की क्या

चली।

चढ़ जाने में कुशल और हम कूद भागने में बली।

रस की तो है भली लूट भी सो भी ऊँची डाल

की।

बलिहारी-बलिहारी जय-जय गिरधारी गोपाल

कीं।

जैसे पदों में वात्सल्य की भावना गुंथरित हो रही है। इस प्रकार द्वापर में वात्सल्य रस के स्नेहार्द सीकर भी वातावरण को सरस बनाने में अपना पूरा-पूरा सहयोग दे रहे हैं। द्वापर में वत्सल रस का आलम्बन श्रीकृष्ण और ग्वालबाल है उनकी चेष्टाएँ उद्दीपन है, यशोदा और नन्द उसके आश्रय है तथा यशोदा का हर्षातिरंक तथा श्रीकृष्ण की चेष्टाओं का गुणगान अनुभाव है, अतः विभाग, अनुभाव और संचारी भाव से परिपुष्ट वात्सल्य स्थायी भाव वत्सल रस के रूप में आस्वाद्य बन रहा है।

प्राचीन आचार्यों ने नाटक और तदनुकूल काव्यों में भी श्रृंगार या वीर इन दोनों में से किसी एक रस को ही अंगी और बाकी अन्य सब रसों को उनके अंगों के रूप में दिखाने का आदेश दिया है। तदनुसार प्रत्येक काव्य में प्रायः वीर रस अंगी नहीं तो अंक रूप में ही अवश्य उद्भासित होता है।

द्वापर की भाव-भूमि के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए हम पाते हैं कि बलराम यहां पर वीर रस के प्रतीक बनकर उपस्थित हुए हैं। वीर रस का स्थायी भाव है उत्साह और यह उत्साह भाव बलराम के एक-एक शब्द से ध्वनित हो रहा है—

रहते हो तो दिखलाओ कुछ आभा उगते तारे।

आज, तेज, साहस के दुर्लभ दिन हैं यही हमारे।

जैसी उत्साह भावना से बलराम का समग्र जीवन ओत-प्रोत है। वे आगे कहते हैं कि—

रहे व्यक्तियों की मर्यादा नहीं शक्ति की सीमा।

इतना ही नहीं वे तो यहां तक कहते हैं कि मनुष्य में यदि एक जोश और जोश का उन्माद न हो, तो उसे वे किसी काम का नहीं समझते :

**नहीं एक उन्माद एक धुन, एक लगन यदि जन
में,**

**तो उस अप्रमत्त को लेकर है क्या लाभ भुवन में
?**

इतनी भूमिका के पश्चात् बलराम जी अपने वास्तविक उद्देश्य को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि हमें अत्याचारी, अन्यायी कंस से डटकर टक्कर लेनी होगी—

वो द्विज द्वेषी कस मूल ही मुख का मेट रहा है।

इसलिए—

**न्याय-धर्म के लिए लड़ो तुम, ऋत-हित समझो
बूझो,**

अनय राज, निर्दय समाज से निर्भय होकर जूझो।

अनयराज और निर्दय समाज की तो बात ही क्या, वे तो साक्षात् यमराज से भी टक्कर लेने के लिए उद्यत हैं—

**रही चुनौती आज हमारी, अधिक क्या कहूं यह
को।**

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वापर में बलराम के माध्यम से उत्साह भाव की अत्यन्त सशक्त अभिव्यक्ति हुई है और इस उत्साह भाव की अभिव्यक्ति में ही वीर रस की निष्पत्ति होती है। इस उत्साह भाव का आलम्बन प्रतिपक्षी कंस है और आश्रय बलराम तथा उनके सहचर ग्वालबाल। कंस से अत्याचार उद्दीपन है और बलराम तथा उनके साथियों की उत्साह भरी चेष्टा अनुभाव है। इस प्रकार वीर रस के विभावानुभाव संचारि भाव आदि सभी तत्वों की उपस्थिति में इस रस की छटा भी द्वापर में खूब निखरी है।

संदर्भ

1. मैथिलीशरण गुप्त—डॉ. प्रभाकर शुक्ल, पृ.

2. मैथिलीशरण गुप्त की काव्य भाषा—डॉ. रमेश प्रसाद सिन्हा, पृ. 143
3. गुप्ती और उनका द्वापर—प्रो. भवानी सिंह त्रिवेदी, पृ. 89
4. साकेत का नवमसर्ग—डॉ. देशराज सिंह भाटी, पृ. 91
5. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त: गुप्त और साकेत—प्रो. सूर्य प्रसाद दीक्षित, पृ. 41
6. हिंदी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 55
7. हिंदी साहित्य का वस्तुपरख इतिहास—डॉ. राम प्रसाद मिश्र, पृ. 19